

उद्बोधन

मेरे प्यारे साथी साधक-साधिकाओ!

आओ, मोह के बंधन से छूटें।

मोह के बंधनों से छूटने का अर्थ है, इस जीवन के दुख-बंधनों से छूटना। मोह के बंधनों से छूटने का अर्थ है आगामी जन्म-मरण के दुख-बंधनों से छूटना। यह मोह ही है जो कि हमें दुख से बांधे रखता है, इस जीवन में भी और अनेक भावी जीवनो में भी।

मोह क्या है? मोह, मूढ़ता है, मूर्खता है, अज्ञान अवस्था है, अविद्या की स्थिति है। मोह अवस्था में ही हम नए-नए संस्कारों का सृजन करते रहते हैं। मन को नए-नए विकारों से विकृत करते रहते हैं। हमें होश ही नहीं रहता कि हम क्या कर रहे हैं, कैसे अपने आपको राग के बंधनों में जकड़ रहे हैं, द्वेष के बंधनों में जकड़ रहे हैं, कैसे अनजान अवस्था में इन बंधनों की गांठें उलझाते ही जा रहे हैं।

यदि मोह दूर हो, याने हमें होश रहे, सावधानी रहे, सचेतनता रहे, जागरूकता रहे तो हम अपने चित्त पर नए संस्कारों की गहरी लकीरें पड़ने ही क्यों दें? अपने आप को राग और द्वेष के बंधनों में बंधने ही क्यों दें? यह ज्ञानपूर्ण जागरूकता ही है, जिसका नाम प्रज्ञा है और जो मोह को जड़ से उखाड़ फेंकती है।

प्रज्ञा को जाग्रत करने के लिए और उसे पुष्ट बनाए रखने के लिए हम विपश्यना का अभ्यास करते रहें, सावधान रहने का अभ्यास करते रहें।

यतं चरे – चलें तो भी सावधानीपूर्वक चलें।

यतं तिष्ठे – खड़े हों तो भी सावधानीपूर्वक खड़े हों।

यतं अच्छे – बैठें तो भी सावधानीपूर्वक बैठें।

यतं सये – लेटें तो भी सावधानीपूर्वक लेटें।

सोते, जागते, उठते, बैठते हर स्थिति में सावधान रहें, सचेत रहें। हमारा कोई काम असावधानी में हो ही नहीं, बेहोशी में हो ही नहीं, गफलत में हो ही नहीं।

‘पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा कयेन कम्मं कातब्बं

– ध्यानपूर्वक भलीभांति देखते-देखते ही काया के कर्म करें।

‘पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा वाचाय कम्मं कातब्बं

– ध्यानपूर्वक भलीभांति देखते-देखते ही वाणी के कर्म करें।

‘पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा मनसा कम्मं कातब्बं

– ध्यानपूर्वक भलीभांति देखते-देखते ही मन के कार्य करें।

इस प्रकार कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के प्रति सावधान रहें, सचेत रहें, जागरूक रहें। अपने द्वारा किए गए प्रत्येक काम का प्रत्यवेक्षण करते रहें। हमारी जागरूकता ज्ञान से परिपूर्ण हो। याने सावधानी के साथ-साथ यह जानकारी भी बनी रहे कि सभी विषय स्वभाव से अनित्य हैं। और जो अनित्य है वह दुख है। और जो अनित्य है, दुख है वह अनात्म है याने वह ‘मैं-मेरा’ नहीं, ‘मेरी

आत्मा’ नहीं। अतः उसके साथ कोई लगाव नहीं, कोई दुराव नहीं, कोई चिपकाव नहीं, कोई छिटकाव नहीं। सारी स्थितियों की जानकारी भी और साथ ही साथ उसके प्रति निःसंगभाव भी, निर्लिप्तभाव भी, निरासक्तभाव भी। यही विपश्यना है, यही मोहनाशिनी प्रज्ञा है।

आओ, इस प्रज्ञा को जगाएं। आओ, इस प्रज्ञा को पुष्ट करें। आओ, मोह को तोड़ें। मोह को जड़ से उखाड़ फेंकें।

साधको! मोह नष्ट होने में ही हमारा कल्याणनिहित है, मंगल निहित है, निर्वाण निहित है।

मंगल मित्र,
स. ना. गो.

प्रज्ञा-कथा

प्रज्ञा क्या है? भली प्रकार जानने का नाम ही प्रज्ञा है। ऊपरी-ऊपरी दिखाऊ स्तर की सच्चाई को ही जान लेना प्रज्ञा नहीं है, प्रत्युत उस ऊपरी सत्य की गहराइयों में पैठ कर, भीतरी अंतिम सत्य जान लेना प्रज्ञा है। जैसे कोई अबोध बालक जवाहरातों को रंग-बिरंगे आकर्षक पत्थरों के टुकड़ों के रूप में देखता है, परंतु एक अनुभवी जौहरी अपनी पैनी दृष्टि द्वारा एक-एक रत्न के भीतर सदोषता-निर्दोषता को देखते हुए उसकी उचित परख करता है, वैसे ही प्रज्ञावान व्यक्ति, जो स्थिति सामने आती है, उसका केवल ऊपरी-ऊपरी अवलोकन ही नहीं करता, बल्कि अपनी बीधती हुई प्रज्ञा-दृष्टि द्वारा गहराइयों में उतर कर परमार्थ सत्य का साक्षात्कार करता है। यों हर स्थिति को भली प्रकार से समग्र रूप में जान लेना ही प्रज्ञा है।

यह जानना भी तीन प्रकार का होता है। अतः प्रज्ञा भी तीन प्रकार की होती है; –

१. श्रुतमयी प्रज्ञा – वह प्रज्ञा जो सुन कर या पढ़ कर प्राप्त हुई हो।

२. चिंतनमयी प्रज्ञा – सुन-पढ़ कर जो प्रज्ञा प्राप्त हुई, उसे विचार-विनिमय द्वारा, चिंतन-मनन द्वारा, तर्क-वितर्क द्वारा अपनी बुद्धि-तुला पर तौल कर न्याय-संगत और युक्ति-संगत समझते हुए पुष्ट कर लेना ही चिंतनमयी प्रज्ञा है।

उपरोक्त दोनों प्रकार की प्रज्ञाएं सर्वथा निरर्थक हैं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, परंतु यह सब पराया ज्ञान होने के कारण बहुधा बुद्धि-विलास बन कर ही रह जाता है, इसके द्वारा हमें जीवन में वास्तविक लाभ नहीं मिलता। वास्तविक लाभ मिलता है इस तीसरी: –

३. भावनामयी प्रज्ञा से। याने वह प्रज्ञा जो हमारी अनुभूतियों के बल पर हमारे भीतर ही प्रकटित और प्रस्फुटित हुई हो। यह हमारा अपना साक्षात्कार है और इसलिए सही माने में कल्याणकारी है।

भावनामयी प्रज्ञा के लिए आवश्यक है कि शील धारण कर सम्यक समाधि उपलब्ध कर लें। सम्यक समाधि में समाहित हुआ

चित्त ही यथाभूत सत्य को जान सकता है, उसके दर्शन कर सकता है।

“समाहितो यथाभूतं पजानाति पस्सति!”

इस यथाभूत देखने को ही विपश्यना याने विशेषरूप से देखना कहते हैं। सामान्यतया हम केवल ऊपरी-ऊपरी दिखाऊ सत्य को ही देख कर रह जाते हैं, जैसे कि वह अबोध बालक रत्नों की ऊपरी रंगीनी और चमक-दमक को ही देखता है। जौहरी की बाँधती हुई पैनी दृष्टि की तरह भीतरी सच्चाई को देख सकना ही विशेषरूप से देखना है और यही विपश्यना है, यही भावनामयी प्रज्ञा है। यहां भावना का अर्थ भावुकता या भावावेश नहीं है। भावना का अर्थ है – बढ़ाना, फैलाना, विकसित करना। याने स्वयं अपने अनुभवों द्वारा प्राप्त हुई प्रज्ञा को विपश्यना के अभ्यास द्वारा बढ़ाते रहना।

ऊपरी-ऊपरी सत्य को जान लेना सरल है, परंतु भीतर सच्चाई का साक्षात्कार करने के लिए अंतर्मुखी होना आवश्यक है। अंतर्मुखी होकर हम अपनी जानकारी प्राप्त करें, आत्म-निरीक्षण करें, आत्म-दर्शन करें, आत्म-साक्षात्कार करें, अपने आप को देखें, जानें, समझें।

काया की गति-विधि पर पूरा ध्यान रखते हुए कायानुपश्यना की जाती है। सांस के आवागमन का निरीक्षण भी कायानुपश्यना ही है। सांस का निरीक्षण करते-करते शरीर के अंग-प्रत्यंग का निरीक्षण करना आरंभ किया जाता है और धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा शरीर के अंग-अंग में स्थूल व सूक्ष्म संवेदनाओं की अनुभूतियां होने लगती हैं, जो कि कभी सुखद, कभी दुःखद, कभी न सुखद न दुःखद होती ही रहती हैं। द्रष्टाभाव से इन वेदनाओं को निरखते रह कर वेदानुपश्यना की जाती है। समय-समय पर उत्पन्न होने वाली विभिन्न प्रकार के चित्तों का निरीक्षण करते हुए चित्तानुपश्यना की जाती है। भिन्न-भिन्न प्रकार की चित्तवृत्तियों याने चित्त में उत्पन्न होने वाले विकारों का निरीक्षण करते हुए धम्मनुपश्यना की जाती है।

इन चारों विपश्यनाओं में हम वेदानुपश्यना को अधिक महत्व देते हैं, क्योंकि इसका संबंध थोड़ा बहुत अन्य तीनों से भी रहता ही है। ‘वेदना’ काया के आधार पर ही अनुभूत की जाती है। वह चित्त द्वारा ही अनुभूत की जाती है। प्रत्येक चित्त-विकार एक सूक्ष्म संवेदना से संबंधित होता है। इस कारण वेदानुपश्यना का अपना विशिष्ट महत्व है। इस एक कीपुष्टि में चारों कीपुष्टि होती चली जाती है।

इस प्रकार अन्तर्विपश्यनाओं द्वारा स्वयं अपनी अनुभूतियों से इस सत्य का साक्षात्कार किया जाता है कि यह शरीर अष्टक लोपों का, सूक्ष्म परमाणु कणों का पुंज मात्र है और अनित्यता, परिवर्तनशीलता उसका स्वभाव है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु; इन चारों महाभूतों से बने ये परमाणुकण शरीर के भीतर अपने गुण, धर्म, स्वभाव का प्रतिक्षण प्रदर्शन करते ही रहते हैं। बाँधती हुई तीव्र समाधि के बल पर ही इस परिवर्तनशील शरीर-धारा के प्रवाह का निरीक्षण किया जाता है और इसी प्रकार सतत परिवर्तनशील चित्तधारा का भी। दोनों का अनित्य स्वभाव और दोनों का दुःख-स्वभाव स्वयं अनुभूत होता है और तब उनका अनात्म स्वभाव भी स्वयं स्पष्ट होने लगता है। दोनों की निस्सारता स्पष्ट महसूस

होती है। तन और मन की इस मिली-जुली प्रवाहमान धारा में स्थायी, स्थिर, शाश्वत, ध्रुव ऐसा कुछ भी तो नहीं है, जिसे “मैं” कह सके, जिसे “मेरा” कह सके, जिस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सके, जिससे अपना तादात्म्य स्थापित कर सके। इस प्रकार नाम और रूप की जीवनधारा को निरासक्त हो कर, निर्लिप्त हो कर, निःसंग हो कर देख सकने का अभ्यास आरंभ होता है। जैसे-जैसे सूक्ष्म अनुभूतियों की गहराइयों में उतरते जाते हैं, वैसे-वैसे यह निर्लिप्तता भी पुष्ट होती जाती है। जब तक आसक्ति है, तब तक आलंबन का यथाभूत दर्शन नहीं कर सकते। विपश्यना प्रज्ञा द्वारा जैसे-जैसे आसक्ति टूटती है, वैसे-वैसे हम सभी आभ्यांतरिक आलंबनों का यथाभूत यथातथ्य, यथास्वभाव, यथालक्षण दर्शन करने लगते हैं जैसे कोई अंधेरे घर में दीपक ले कर प्रवेश करे तो वहां का अंधकार दूर होता है। प्रकाश उत्पन्न होता है और उस प्रकाश में वहां की सब वस्तुएं साफ-साफ देखने लगती हैं। इसी प्रकार प्रज्ञा के उत्पन्न होने से अविद्या का अंधकार दूर होता है; विद्या का उजाला जाग उठता है और उस ज्ञानालोक में आर्यसत्त्वों का प्रकटीकरण होता है, परमार्थ सत्त्वों का साक्षात्कार होता है।

हम अपने अध्यात्म की गहराइयों में उतर कर दुःख सत्य का साक्षात्कार करते हैं। सदा अतृप्त और असंतुष्ट रहने वाला यह मन किस प्रकार तृष्णा की प्यास से निरंतर व्याकुल ही रहता है। यह प्यास भी कैसी न बुझने वाली प्यास है! ऐसा बिना पेंडे का गहरा कुआं, जिसे भरने के सारे प्रयास निष्फल होते रहते हैं। अपनी तृष्णाओं अहम्मन्यताओं और दृष्टियों के प्रति बढ़ा हुआ उपादान, चिपकाव, आसक्त-भाव हमें किस प्रकार निरंतर व्यथित, व्याकुल और व्यग्र बनाता ही रहता है। हमारे दुःखों और उन सभी दुःखों के मूलभूत कारण का साक्षात्कार होने पर, उसके निवारण का यह पावन मार्ग किस प्रकार दुःख उत्पन्न करने वाली इन आसक्तियों को नष्ट कर हमें दुःख-विमुक्त बनाता है। इसी मार्ग का अभ्यास करते-करते नितांत दुःख-विमुक्ति-स्वरूप निर्वाण का भी साक्षात्कार हो जाता है।

इस प्रकार जैसे-जैसे विपश्यना के अभ्यास द्वारा प्रज्ञा पुष्ट होती जाती है, वैसे-वैसे मोह, मूढ़ता, माया, मरीचिका, भ्रम, भ्रांति, धोखा, विपर्यास सभी दूर हटते जाते हैं। सारी स्थिति अपने आप स्पष्ट होती जाती है। मन में किसी प्रकार की शंकाएं, कुशंकाएं नहीं रहने पातीं। प्रज्ञा पुष्ट होती है, तो शील-सदाचार शुद्ध होता है, विकारों से विहीन हो कर चित्त विशुद्ध होता है, दृष्टि विशुद्ध होती है और इस कल्याणकारी विशुद्धि मार्ग पर आगे बढ़ते हुए हम शुद्ध आर्यत्व प्राप्त करते हैं। मुक्ति-सुख का आस्वादन करते हैं।

विपश्यना प्रज्ञा का अपना एक सुख है, जो अन्य सभी सुखों से उन्नत है। चाहे हम स्थूल ऐन्द्रिय सुखों में लिप्त हों अथवा अतीन्द्रिय रूप, शब्द आदि के आलंबनों द्वारा आत्म-सम्मोहनजन्य किसी प्रकार की आनंदानुभूति में लिप्त हों, दोनों ही अवस्था सच्चे सुख की अवस्था नहीं है। क्योंकि जब ये सुख समाप्त होते हैं, तो गहरा दुःख साथ लाते हैं। और चूंकि दोनों ही अनित्य हैं, इसलिए परिवर्तनशील हैं, इसलिए समाप्त होते हैं। समाप्त होते ही मन फिर

उन्हें पाने के लिए छटपटाने लगता है, तृष्णा से व्याकुल होने लगता है। वास्तविक सुख तो वह है जो सदा एक रसबना रह सके। वह सुख निर्लिप्त का ही सुख है। जब हम निर्लिप्त हो कर देखने के अभ्यासी हो जाते हैं, तो हमारा आलंबन भले बदलता रहे, हमारे देखने में कोई अंतर नहीं पड़ता। न तो हम ऐन्द्रिय अथवा अतीन्द्रिय सुखों के आगमन पर नाचने लगते हैं और न ही उनके निगमन पर रोने लगते हैं। दोनों ही स्थितियों का एक तमाशबीन की तरह तमाशा देखते हैं। अपने अंतर्मन की गहराइयों में उतर कर सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थिति की भी परिवर्तनशीलता का निरीक्षण करते-करते इस अनित्यता की गहन सच्चाई के प्रति सम्यक दृष्टि जागती है, जो कि हमें इस परिवर्तनता से प्रभावित होने से बचाती है। हम एक जैसी निर्लिप्त और निस्पृह दृष्टि से प्रत्येक बदलती हुई स्थिति को देखते हैं और उसका सुख लेते हैं। जो कुछ सांद्रदृष्टिक है, आंखों के सामने है, उसे निर्विकारभाव से देखते रहने का सुख निराला है, अनोखा है, अतुलनीय है। यही सच्चा सुख-विहार है। इसे ही **‘दिदृ धम्म सुख विहार’** कहा गया है।

निरंतर अतृप्ति और असंतुष्टि-जन्य तृष्णाओं में झुलसते रहने के बजाय आओ, हम विपश्यना के अभ्यास द्वारा अपनी भावनामयी प्रज्ञा विकसित करें और तृष्णा की गहन आसक्तियों से विमुक्त हो कर स्थितप्रज्ञ व अनासक्त बनें, जीवनमुक्त बनें और अपना सच्चा मंगल साधें, कल्याण साधें।

**कल्याणमित्र,
स. ना. गो.**

[टिप्पणी; शील-कथा, समाधि-कथा और प्रज्ञा-कथा के लेख लगभग १० वर्ष पूर्व ‘विपश्यना’ में प्रकाशित हुए थे। नए साधकों के लाभार्थ पुनः प्रकाशित किये जा रहे हैं - सं.]

ताईवान में धर्मोदय

ताईवान में गिनती के साधक हैं फिर भी उनके आग्रहपूर्ण आमंत्रण को स्वीकार कर पू. गुरुजी और माताजी जुलाई के प्रथम सप्ताह में वहां पधारे। केवल ९ दिनों के अल्प प्रवास में वहां पहुँचते ही उन्होंने कई राष्ट्रीय स्तर की प्रख्यात पत्र-पत्रिकाओं को भेंट दी, कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों से मिले और कई सार्वजनिक प्रवचन भी दिये, जिससे पूरे ताईवान में विपश्यना की चर्चा होने लगी।

चुंग-ली शहर के समीप ताईपेई की **येन कुवान** मोनास्ट्री में भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए एक घंटे का प्रवचन और प्रश्नोत्तर हुए, जिसमें समीप के विश्वविद्यालय के विद्वानों ने भी भाग लिया। एक और प्रवचन ग्वाई-सान शहर की **ताईपेई जेल** में लगभग ४०० कैदियों के लिए आयोजित किया गया जिसमें अनेक ड्रग के नशे वाले कैदी भी थे। जेल के मुख्य वार्डन श्री बिह-वू कुंग ने बात-चीत के अंत में शीघ्र ही जेल में शिविर लगवाने की इच्छा व्यक्त की।

ताईपेई के मध्यवर्ती भाग में स्थित **फा-कु आंग इंस्टीट्यूट** के बुद्धिस्ट स्टडीज विभाग में तीन दिवसीय प्रवचनों की प्रश्नोत्तर सहित एक आक्रंखला आयोजित की गयी, जिसमें प्रतिदिन लगभग ३५० लोगों ने भाग लिया। इसके तीसरे दिन के प्रवचन में न्याय-मंत्री श्री मा यिंग-ज्यू भी आए और उन्होंने पू. गुरुजी से व्यक्तिगत चर्चा की और पूर्व में लगे कारागार-शिविरों के परिणामों से बहुत प्रसन्न हुए।

पू. गोयन्काजी ताईवान के **संघ-प्रमुख** आदरणीय भिक्षु जिंग-सिंग से भी मिले, जिन्होंने भगवान बुद्ध की बताई हुई इस विद्या के प्रतिपत्ति और परियत्ति धर्म के भारत तथा विश्व में इतनी तीव्रगति से प्रसार पर प्रसन्नता व्यक्त की और निकट भविष्य में ही धम्मगिरि आने की इच्छा प्रकट की।

एक साधक ने पू. गुरुजी को ताईवान के मध्यवर्ती भाग में स्थित सुरम्य पहाड़ियों के बीच फलों के बगीचों से युक्त अपनी दो एकड़ जमीन विपश्यना केंद्र के लिए दिखायी और समर्पित की, जिसे पू. गुरुजी ने **‘धर्म उदय’** नाम दे कर स्वीकृति प्रदान की।

अंतिम दिन ऐसा संयोग हुआ कि विश्व विख्यात **जेन मास्टर** आ. शेंग-येन का आमंत्रण मिला कि एक ही मंच से दोनों अपनी-अपनी विधि के बारे में संक्षिप्त प्रवचन दें। पू. गुरुजी ने उनका यह आमंत्रण भी स्वीकार कर लिया और सुखद बात यह रही कि इससे दोनों ही बहुत प्रसन्न हुए। प्रश्नोत्तरों से बहुत सारी बातें स्पष्ट हुईं। उसी शाम वहां भारतीय मूल के लोगों ने एक हिंदी प्रवचन का भी आयोजन कर डाला।

इन नौ दिनों के सभी कार्यक्रम विख्यात दुभाषिये प्रोफेसर चेंग चेन-हुआंग द्वारा अनुवादित किए गये और सब की आडियो-विडियो रेकार्डिंग भी की गयी है।

यह सारा कुछ मात्र थोड़े से पुराने साधकों के प्रयत्न से संभव हुआ जो कि अभी एक-दो वर्षों में केवल एक-दो शिविर ही किए थे और कुछ तो अभी बैठने वाले हैं। लोगों के उत्साह को देखते हुए ६ से १७ अगस्त तक एक शिविर लगाने का निर्णय किया गया, जिसके लिए इतने लोगों के आवेदन आने लगे कि यह संख्या ३५० के ऊपर चली गयी। अतः समुचित व्यवस्था को ध्यान में रख कर क्रमशः तीन शिविरों का आयोजन निश्चित करना पड़ा।

अभी पिछले दिनों ही दस दिवसीय प्रवचनों का चाइनीज अनुवाद हो चुका है जो कि इन शिविरों के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। शिविर के अन्य आदेश-निर्देश भी अंग्रेजी मंडारिन भाषा में उपलब्ध हो गये हैं। इस प्रकार ताईवान का पहला शिविर दोनों भाषाओं में संचालित किया जा सकेगा। स्थानीय लोग जो कि पहले शिविर ले चुके हैं वे व्यवस्थापन के हर काम में सहयोग दे सकेंगे।